सारिका

अनुक्रम

•

प्रारम्भ

आवरण-सज्जा : रामानन्द

आवरण चित्र : लक्ष्मीचन्द्र गुप्त

अनुक्रम

•

प्रारम्भ

आवरण-सज्जा : रामानन्द

आवरण चित्र : लक्ष्मीचन्द्र गुप्त

रू पा म्ब रा

युयुत्सावादी–नवलेखन–प्रधान सहकारी प्रयास

क्रम संख्या : एक

सम्पादक : स्वदेश भारती : शिवकुमार : शलभ
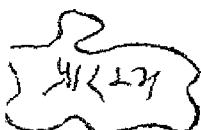
आरम्भ

नानी की कहानी से लेकर नई कहानी और वैदिक सूत्रों से लेकर आज की किञ्चित कविता–परम्परा और अब....अभी इस क्षण तक का पूरा अन्तराल ! सवर्षशील युगान्तरण ! प्रथम–द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकाएँ ! परतन्त्रता की बेड़ियों में शताब्दियों से जकड़ी मानवता की मुक्ति का चिंतन ! साम्राज्यवाद का पतन। अफ्रीका और एशिया के देशों का जागरण—अभ्युत्थान ! **सबका एकमात्र कारण युयुत्सा !** आज की चांद पर चढ़ाई करने वाली मानवीय ऐषणा, विश्व संघ की परिकल्पना एवं पञ्चशील की परिभावनात्मक सैद्धान्तिक रूपरेखा के मूल में भी वही युयुत्सा !

आज के मानव की समूची जीवन प्रक्रिया, मूल्य परिवर्तनों और विघटनों अथवा *भयांतक-संत्रस्त* युग का हर क्षण, हरपल जिसे निवेदित है वही युयुत्सा !

संक्षिप्ततः हर नये की संस्थापना की मूल प्रेरणा युयुत्सा जिसे भाई शलभ (श्री राम सिंह) ने इन शब्दों में स्वीकारा है— **"मैं साहित्य–सृजन की मूल प्रेरणा के रूप में उसी 'आदिम युयुत्सा' को स्वीकारता हूँ जो कहीं न कहीं प्रत्येक क्रान्ति, परिवर्तन अथवा विघटन के मूल में प्रमुख रही है। वह युयुत्सा जिजीविषावादी, मुमूर्षावादी, विद्रोहात्मक अथवा 'प्लेटोनिक' कुछ भी हो सकती है।"** और यही युयुत्सा 'रूपाम्बरा' के प्रकाशन की भी आधारशिला है ! तथास्तु !

सम्पादकीय सम्पर्क-सूत्र

आर्य पुस्तक भवन, १८०, चित्तरंजन एवेन्यू, कल०-७

कवयित्री : नीलम सिंह

कथालेखिका : रजनी पनिकर

आत्म-स्वीकृति

●

नाम : नीलम सिंह

जन्म : २३ सितम्बर, १९४३ फतेहगढ़ में।

शिक्षा : प्रयाग विश्वविद्यालय से पिछले वर्ष प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति में एम० ए०।

अभिव्यक्ति के माध्यम की खोजमें सर्वप्रथम चित्रकला की ओर आकृष्ट हुई। विभिन्न मुद्रा चित्रों के पोर ट्रेट्स तथा 'लैण्डस्केप' की एकाधिक प्रदर्शनियाँ। बाद में जिन्दगी की गोपन पर्तों को समझने उन्हें रूपायित करने की चेष्टा में साहित्य क्षेत्र में प्रवेश। पिछले दो वर्षों में यत्र-तत्र नवलेखन की पत्रिकाओं में लगभग १० कहानियों और २० कविताओं का प्रकाशन। आधुनिक युग की जटिलताओं—उसके तेजी से बदलते हुए स्नेह-सम्बन्धों; जीवन-मूल्यों की पृष्ठभूमि पर एक उपन्यास का भी सृजन अभी-अभी किया है।

रुचियाँ बहुविधि हैं : अभिनय-कला से लेकर हस्तरेखा अध्ययन तक। विभिन्न Occual of Sciences में गहरी दिलचस्पी; पर, इन सब का एक मात्र कारण; जिन्दगी को समझने की जिज्ञासा और उसको अभिव्यक्ति की छटपटाहट।

• वक्तव्य

एक बार एक अहीर कुछ सामान लेकर अपने जमींदार के यहाँ गया गर्मी की दोपहर थी तभी जमींदार के गुरुजी कहीं से आ गए। थके हुए थे जमींदार ने ठंडे जल से उन्हें मल-मल कर नहलवाया और उसके बाद ठंडा शर्बत पीने को दिया। गुरुजी उस अहीर के भी गुरु थे उसने भी उनसे प्रार्थना की कि वे कभी उसके यहाँ भी पधारें और उन्होंने वादा कर लिया। चार-पांच महीने बाद दिसम्बर की कड़कड़ाती ठण्ड में वे अहीर के द्वार पर पहुँचे। उसे लगा कि गुरुजी साक्षात भगवान के रूप में उसके यहाँ आ गए हैं। फिर क्या था गुरुजी के न चाहने पर भी बाप-बेटों ने उन्हें खूब मल-मल कर बीसों घड़े ठण्डे पानी से नहलाया और बाद में लोटा भर ठण्डा मट्ठा उन्हें पीने को मजबूर किया। श्रद्धा की बात थी—बाप बेटे की निष्ठा ने गुरुजी को तुरीयावस्था में पहुँचा दिया यानी वे ठिठुर गए।

आज नई कविता की स्थिति बहुत कुछ उस गुरु जैसी ही है। कहा जाता है कि सही अनुकरण का काम मौलिक होने से कहीं अधिक कठिन होता है। आज कविता गलत अनुकरण करने वालों के हाथों इतनी पागल हो गई है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। पत्र पत्रिकाओं में ढेरों कवितायें छपती हैं लेकिन उनका सामूहिक प्रभाव सिर्फ उदासीनता को जन्म देता है। जो अच्छी कवितायें लिखी भी जा रही हैं; वे कूड़े के ढेर में खो जा रही हैं। पुनरावृत्ति, जर्जर खोखलापन : निरर्थक दिमागी कसरत, ऊब, उकताहट, भोंडापन, मखौल, आज कविता की नियति पर हावी हैं। दस साल पहले कवियों को वक्तव्य देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी थी कि वे अपने इर्द-गिर्द के समकालीन यथार्थ को जिस ढंग से व्यक्त कर रहे थे; वह पाठकों की समझदारी की गति से अधिक तेज था। काव्य के आस्वादन के उनके संस्कार पीछे थे और कवि की संचेतना आगे; इसीलिए दोनों के बीच एक दूरी थी। वक्तव्य की अनिवार्यता इसी दूरी को कम करने का माध्यम थी। आज जबकि बहुत सारे पाठकों के संस्कार बदल गए हैं; हमारे बहुत सारे कवि खुद भटकाव के शिकार हो गए हैं। यह स्थिति बहुत दयनीय है यदि इस अराजकता के प्रति उदासीन

रहा गया तो कवि के कवि न्य ख्याता और प्रवक्ता एडवोकेट) होने की आव श्यकता ('अज्ञेय जी') सार्थक अन्त नहीं पा सकेगी।'

जरूरी नहीं है कि कविताओं की उत्कृष्टता के बारे में मेरे जो खयालात है, वे मेरी अपनी कविताओं में सटीक रूप पा ही जाते हों। मेरी अन्दर और बाहर की जो जिन्दगी है—मेरे इर्द-गिर्द जिस तरह के लोग हैं—घर और बाहर के लोगों से पारिवारिकता और सामाजिकता का मेरा जो नाता है उसमें तरह-तरह के अनुभवों से गुजरना पड़ता है। जब भी ये अनुभव मेरी संवेदना को झकझोरते हैं; मैं खुशी और रंज दोनों में परेशान हो जाती हूँ। एक अजीब कशमकश; एक विचित्र अन्तर्मन्थन; भंवर-कुंड के जल की तरह मेरे अन्दर चक्कर लगाने लगता है! मैं उससे अपनी पूरी शक्ति से संघर्ष करती हूँ। संघर्ष की यह प्रक्रिया मेरे काव्य सृजन की प्रक्रिया है। उस संघर्ष से मुक्ति मेरी निजी मुक्ति है। जब-जब यह मुक्ति मेरी उपलब्धि बनती है मैं एक नये जीवन का अनुभव करती हूँ। हर कविता की सफल पूर्ति मेरे लिये एक नया जन्म है। और रचना प्रक्रिया का हर दौरान मेरे लिए मृत्यु है।

मानती हूँ कि जीवन के अधिकांश मूल्य सापेक्ष्य हैं। वे युग के अनुसार बदलते रहते हैं। समूहवादी सभ्यता और संस्कृति में महान आदर्श की स्थापना सहज भी थी और संभाव्य भी। आज की सभ्यता और संस्कृति दोनों का अन्तर्स्वर वैयक्तिक है इसीलिए समाज मेरे लिए जितना महत्वपूर्ण है उतना ही महत्वपूर्ण मैं अपने लिए भी हूँ। आज की उपलब्धि अपने को समर्पित और विसर्जित कर देने में उतनी नहीं है जितनी कि अपने और अपने से अलग लोगों के बीच एक सेतु का निर्माण कर देने में; या एक सन्तुलन स्थापित कर देने में [मगर मैं मध्यमार्गी नहीं हूँ. जिस युग की कला अपने समसामयिक जीवनबोध को, जितनी तीव्रता से ग्रहण कर पाती है; वह कला उतनी ही जीवन्त होती है। आज के पूरे सृजन में यदि आशा की कोई किरण है तो सिर्फ यह कि आज वास्तविक सर्जकों की कलादृष्टि आधुनिक जीवन को उसकी वास्तविकता में समझने, उसे विश्लेषित करने प्रतिबिम्बित करने के प्रति आग्रहशील हैं। मैं अपने भरसक प्रयत्न करती हूँ कि अपनी कला में आज के जीवन बोध के प्रति ईमानदार रह सकूँ। सफलता और असफलता की बात अलग

की है क्योंकि वह कम से कम समकालीन सदर्भों में सापेक्ष्य ही है।

मेरा प्राथमिक आग्रह इसी बिन्दु पर है। शिल्प और सज्जा; और अलंकरण मेरे लिए गौण हैं। इनकी प्रौढ़ता बहुत कुछ अभ्यासजनित होती है। सौंदर्य सादगी में भी होता है और साज-शृङ्गार में भी। लेकिन दोनों के लिए आकार जरूरी है। कविता मैं इसलिए नहीं करती हूँ कि मेरे पास शब्दों की जो पूँजी है उसका किसी न किसी प्रकार से उपयोग कर लिया जाए—बल्कि सिर्फ इसलिए कि मेरे मन-मस्तिष्क पर फूलों या पत्थरों का जो बोझ है उससे सबसे पहले हल्की हो लूं; और अगर मौका मिल जाय तो उन्हें करीने के साथ यथास्थान रख दूँ ताकि देखने वालों को उनका होना बुरा न लगे। और चाहे क्षण भर का ही सही मुझे एक सन्तुष्टि...। 'क्षणवादी दर्शन' लोगों के वक्तव्यानुसार मेरे बहुत निकट पड़ता है—मगर सत्यता यह है कि मेरी भावाकुलता उसी से सन्तुष्टि पाती है जो मुझे भाती है चाहे लोग उसे अच्छी वस्तु की संज्ञा दें या बुरी की—जो मेरी जिन्दगी के साथ घुल-मिल कर एक तादात्म्य स्थापित कर ले वही मेरी पूँजी है।

नीलम सिंह

१ : टूट गई रात

पूरी रात नींद नहीं आयी।
पेड़ों, चौराहों, दीवारों पर
सिर्फ एक चीखती उदासी थी—
लिखी हुई चिट्ठी की सतरें
अनगिन अनपेक्षित रेखाओं से बंधी
लगता है : तुमने नहीं लिखीं।
सवेदनहीन भाव; जो
तुम्हारे आस पास की भीड़ से
निकल कर भाग आए हैं
उनमें
ग्लास में उड़ेली हुई मदिरा के

उठते बुलबुले
स्वाद जिसका कड़वा; कसैला
पर; मेरे लिए मीठा
क्या करूँ ?
जब अचानक ही तुम्हारी याद आयी
और यूँ ही बैठे बैठे
शाम भी अंधेरे में सहसा वहरा गयी
जाने क्यों; तब मैं
निरपेक्ष; निरुद्देश्य नहीं रह पायी
मन का अरूप अनमनापन
सत्य के बीच घिर कर सो गया !
पिछली रात की तरह
रात; आधे में ही आकर टूट गयी
पूरी रात नींद नहीं आयी।

२ : पहला स्पर्श

बहुत दिनों बाद
आज यह बेलौस हवाएँ
डोल डोल कर
मधुर मधुर.....
मन्द मन्द गुनगुनाती हैं।
रोज नहीं
बहुत दिनों बाद
आज जाने क्यों
मेरे आँगन के गुलमोहर की फुनगियाँ
और चम्पा की डालियाँ
अकस्मात
एक अनचाहे अनकहे बोझ से
झुक गई हैं।
बहुत दिनों बाद
आज जाने क्यों
फिर एक दर्द उठा

"चिनगी सा सुलगा
और सुलगता चला गया
लगा इस बेलौस हवा ने
कहीं कोई पोर ऐसा छुआ है जो,...
चिनगी के जहर को
ताप जीवन देता जा रहा है।
बहुत चाहती हूँ कि,—
यह जहर का घूंट
जिसकी पहली अनुभूति अमृत बन गई थी
रिस रिस कर मेरी रग रग में समा जाए
पर नहीं,...नहीं...,
कहीं वह पहला स्पर्श
झूठा न पड़ जाए

३ : मैं मानवी

•

मैं अखण्ड और अनुरक्त
ओ अयुत,—
लो, मेरा सब कुछ
पर मुझे तुम दान दो लघुता
लो मेरी महानता, ईहा, स्वत्व
पर—
यह सब दो,—
द्रवित होकर...

ओ प्रबुद्ध—मुझको नया एक पंख दे दो
यह प्रकृत—यह भू-गगन
सब कुछ तुम्हारा!

मैं मानवी
स्वयं को कर विसर्जित
पीड़ितों की पंक्ति में
सृष्टि के आरम्भ से बैठी हुई हूँ

४ : मैं कहाँ हूँ

नींद और जागरण के बीच के
अनिश्चय में रिसते हुए क्षण
गोधूलि —
स्वप्न से छूटे हुए सपने
अकहनीय, गहरे एक दर्द के दबाव में
मुझसे कतराती हुई ऊँची प्रतिध्वनियाँ
हाथ खींच पीछा छुड़ाती दिशाएँ :
अपरिचय के अभिनय
होंठों पर उँगली रख जीने की
असहनीय स्थिति में
भटक रही हूँ मैं किस अर्थहीन गूँज-सी
खोखली हवाओं के बीच
आखिर कहाँ हूँ मैं ?

५ : एक एहसास

एक सुबह....
एक नम मखमली दूब मेरे तलवों को सहला गई
और उस सुबह से लेकर पूरी शाम तक
मैं उस मखमली स्पर्श की छुअन में डूबी रही
और दिन डूबते न डूबते;
बेबसी में मुँदी हुई पलकें.....
अचानक सुबह का वह खयाल आँखों से
ओझल हो गया
.....मैं बेसब्र......
अनमनी,—
कि, चोट तो बहुत हलकी थी
पर पीड़ा बहुत गहरी
और उसका एहसास है
उससे भी ज्यादा

● पता : ५, जवाहरलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद ।

आत्म-स्वीकृति

●

नाम : रजनी पनिकर।

शिक्षा : एम० हिन्दी, एम० अंग्रेजी।

विशेष : पानी की दीवार, मोम के मोती, प्यासे बादल, काली लड़की, जाड़े की धूप [आरम्भ में दो छोड़कर क्रमशः ३, ४, ५ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत] एक लड़की दो रूप उपन्यास और सिगरेट के टुकड़े तथा प्रेम चुनरिया बहुरंगी कहानी संग्रह।

सम्प्रति आकाशवाणी के कलकत्ता केन्द्र से सहायक निर्देशक के रूप में संयुक्त।

वक्तव्य : कहानी लेखन : मेरी दृष्टि में

●

कहानी जिन्दगी की सही-सही तस्वीर होनी चाहिए। मैंने जान-बूझ कर सच्ची का प्रयोग नहीं किया। क्योंकि सच और झूठ व्यक्ति के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। पुरानी बात मैं फिर से नहीं दुहराऊँगी कि एक चीज जो किसी के लिए सच है तो किसी के लिए झूठ। सही से मेरा मतलब यथार्थ से है। जिसे अक्सर सामाजिक मर्यादा, हमारे अपने बनाये हुये नियम और कानून तथा अन्य परिस्थितियों से टकराना पड़ता है। कम से कम मैं तो जिन्दगी की सही तस्वीर नहीं दे पाती जो देखती हूँ। या जैसी मुझे देनी चाहिए। कारण कई एक हैं। मेरी मजबूरियाँ, और सबसे बड़ी बात है मेरा औरत होना। मैं कुछ भी लिखूं वह मेरी जिन्दगी के साथ जोड़ दिया जाता है। मैं अनुरोध

करती हूँ कि लेखक के समान [illegible] होना [illegible] अपने देश समाज के प्रति और उन पाठकों के [illegible] करने में [illegible] का [illegible] रहता है। फ्रांस का जीवन या अमरीका के किसी छोटे से कस्बे का जीवन लाख कोशिश करने पर भी भारतीय नहीं बन सकता। हम, हमारी समस्याएं वह नहीं हो सकतीं जो फ्रांस के या अमरीका के रहने वालों की हैं। न जाने हम लोग (जहाँ लेखक इनसे मैं अलग नहीं हूँ) केवल 'नारी' 'सेक्स' और कुछ प्रशिक्षित लोगों द्वारा जी जाने वाली शहरी सभ्यता को लेकर ही कहानियाँ क्यों लिखते हैं। इनमें से एक भी किसान के उस उल्लास और हाथों के चमत्कार का वर्णन नहीं कर पाता जो कि वह अपने ट्रैक्टर से की गई सामूहिक खेती को लहलहाते देखकर अनुभव करता है, ग्राम सेविका के कहने से सन्तति-निरोध का आपरेशन करवाता है जिसके फलस्वरूप उसके घर में कलह हो जाती है। उसकी बूढ़ी माँ जादू-टोने का दौर करने लगती है। उसका घर पहले साफ है। उसमें शायद भाखड़ा नांगल अथवा किसी अन्य जल विद्युत योजना से बिजली का प्रकाश भर गया है. शाम को चौपाल में अपने लिये प्रसारित किया गया विशेष कार्यक्रम सुनने के बाद शायद उसने नाइट क्लास में भी कुछ समय बिताया हो। उसका लेखा-जोखा, उसकी अभिनव समस्याओं की ओर हमारे लेखकों का ध्यान नहीं गया। हम लोग केवल कॉफी हाउस की कड़वाहट वहीं का धुंआँ, भूखे पेट, शरीर और मन वाले नायकों द्वारा पूछी गई, नकली विदेशी साहित्य से चोरी की गई सूक्ति रूप में बोली गई बातों के ही विषय में लिखते हैं।

प्रेम को छोड़ कर नारी के जीवन में अन्यान्य समस्याएँ हैं। जाने उसे कोई क्यों नहीं देता ? बदली परिस्थितियों में परम्परा से हटने में नारी लेखिकाओं को, नारी पाठिकाओं को सहायता देनी चाहिये। पत्र-पत्रिकाओं को ऐसी रचनाओं से जाने क्यों चिढ़ है ? किसी भी सन्तुलित मस्तिष्क वाली नारी द्वारा जिसने अपनी बहनों की समस्याओं पर गहन विचार किया हो ऐसी कहानियों की अपेक्षा की जानी चाहिए कि वह नारियों को नया दिशा-निर्देश दे। उदाहरण के तौर पर एक मध्यम श्रेणी, मेरा मतलब निम्न मध्य वर्ग से है की पत्नी जिसका पति, उसके फैशन न करने पर उसमें अकृत्रिमता का अभाव होने से उससे नाराज रहता है, स्वयं उन साधनों को जुटा पाने की क्षमता नहीं रखता यह सलाह क्यों

कहानी : गुणवन्ती मौसी

आँख से अन्धे, नयनसुख वाली उक्ति प्रायः हमारे दैनिक जीवन में चरितार्थ होती दिखाई देती है। हमारी गुणवन्ती मौसी ऐसी नहीं हैं, वह वास्तव में गुणों का भण्डार हैं। गुणों से आप यह मतलब मत लगा लीजिए कि वह बहुत बड़ी लेखिका हैं या किसी कला-केन्द्र की अध्यक्षा हैं। वह चित्रकार या कवियित्री भी नहीं हैं और यदि आज्ञा दें तो यह भी बतला दूँ कि वह संसद की सदस्या भी नहीं हैं। फिर आप कहेंगे, जब वह यह 'सब' नहीं तो उनकी चर्चा से लाभ? आजकल तो उस मौसी, बुआ या बुआ की ननद की मौसी और उससे भी निकट का सम्बन्ध स्थापित करना हो तो, आप यानी जिसमें 'हम' सम्मिलित हैं, अक्सर ऐसी मौसी की भतीजी की नानी से कोई न कोई सम्बन्ध निकाल लेते हैं और उन्हीं की चर्चा में हमें अतीव आनन्द मिलता है। हम सोचते हैं, भरी सभा में, हल्के से, झूठे या सच्चे रिश्ते का उल्लेख कर देंगे तो वह बात सूखी लकड़ियोंकी आगकी तरह फैल जाएगी। क्षमा कीजिएगा लकड़ियां तो आज के युग में फिर भी मंहगी हैं, परन्तु ऐसी बातें तो केवल धीरे से दूसरे व्यक्ति को विश्वासपात्र बनाकर कान में फुसफुसा दी जाती हैं, और बिना दामों के स्वतः ही फैलने लगती हैं।

हमारी मौसी, केवल हमारे मौसा श्री मुरलीधर जी की धर्मपत्नी हैं। श्री मुरलीधर ने शायद जीवन भर में राम झूठ न बुलवाये, सच्ची मुरली के दर्शन नहीं किये होंगे। हां, वैसे तो नियमपूर्वक अपना माथा मुरली वाले के सामने झुकाते है। श्री मुरलीधर जी की एक बड़ी-सी दूकान, पंजाब के एक बहुत ही छोटे से शहर में है। शहर का नाम बतला दिया—तो जानते हैं क्या होगा? ठीक वही होगा जिसकी मुझे आशंका है और जिसका वृत्तान्त मैं अभी बतलाने जा रही हूँ। पति की आभूषणों वाली दूकान में जो सोने का नया 'सेट' बनता है, चाहे वह

जड़ाऊ हो या सादा, एक दिन मौसी के शरीर की शोभा जरूर बढ़ाता है। बस तो कहना नहीं चाहिए, परन्तु पूरी बात का आधा महत्व जाता रहेगा, यदि मैं मौसी के व्यक्तित्व पर प्रकाश न डालूं। मनोविज्ञान का बड़े से बड़ा पण्डित भी इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि शरीर व्यक्तित्व का बहुत ही आवश्यक अंश है। गुणवन्ती मौसी जहाँ चार फुट दस इञ्च लम्बी हैं वहाँ उनका वजन साढ़े तीन मन से कम तो न होगा। त्वचा का रंग ऐसा है जैसे किसी ने मक्खन में केसर मिलाया हो। गोल मुख पर बड़ी बड़ी आंखें, उन पर सुनहरी फ्रेम की ऐनक जो 'दृष्टि-दोष' के लिए लगाई गई थी।

मौसी जब मुस्कराती तो उनका ऊपर वाला होंठ, जिस पर एक बड़ा-सा तिल है, ऊपर-नीचे उठता है, फड़कता रहता है, देखने वालों का हल्का सा मनोरंजन करता है। गुणवन्ती मौसी बहुत बात करती हैं, एक बार शुरू हो जाती हैं तो उन बातों का अन्त नहीं होता। बातें करने के साथ-साथ मुख पर हर भाव के साथ एक नई प्रतिक्रिया होती है। जब हँसती हैं तो उनका दोहरा शरीर आठ तह हो जाता है।

गुणवन्ती मौसी हमारी मां की सगी, चचेरी, ममेरी या किसी तरह की 'गांव-बहन' भी नहीं हैं। वह लाहौर में हमारे एक तीन महीने पुराने पड़ोसी, यानी बरसों साथ वाले मकान में रहने वाले पड़ोसी की नहीं, केवल नये पड़ोसियों की, वहीं छोटे शहर में, पड़ोसिन रह चुकी थीं। एक बार लाहौर में प्रदर्शनी हुई थी, उसमें वह आई थीं, पड़ोसियों ने गुणवन्ती मौसी का परिचय करवा दिया था। एक ही बार हमारा नमस्कार हुआ था।

कुछ वर्ष पूर्व, दिल्ली में अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई थी। तब जिस घर ने कभी मेहमानों का मुख नहीं देखा था, वहाँ भी मेहमान आए थे। हमारे यहाँ की बात ही दूसरी है। पंजाब सरकार की ओर से एक सरकारी डाक बंगला है, जिसमें केवल अधिकारी वर्ग के लोग आकर ठहरते हैं, परन्तु हमारे 'डाक बंगले' में न किराया लगता है, न धोबी की धुलाई, सुबह का नाश्ता और रात का भोजन भी किसी न किसी तरह मिल ही जाता है। रही दोपहर के भोजन की बात, वह आजकल घर में खाने का रिवाज नहीं। खैर, मैं बात अपने यहाँ के डाक-बंगले की कर रही थी। दिल्ली में इतनी बड़ी नुमायश हो वह न देखी जाय

न [illegible] यह कभी हो सका था [illegible] पर यह [illegible] कि अम्मा की तरह [illegible]
टपकने लगे। दिल्ली में पाँच-छः कमरों के घर हों और हर कमरे के साथ स्नान-गृह हो तो औपचारिक विधि से किसी को निमन्त्रण देने की आवश्यकता नहीं, यह काम बेतकल्लुफ मेहमान स्वयं ही कर लेते हैं।

मेहमानों से घर भरा पड़ा था। उस साल तो अधिक सर्दी नहीं थी। रात्रि के पौने नौ बजे के लगभग समय होगा। उसी समय श्रीमती सुखवन्ती मौसी ने प्रवेश किया। हाथों में सोने की बीस-बीस चूड़ियाँ, गले में पाँच-छः हार, अजी क्षमा कीजियेगा, उतनी जल्दी में, मैं पूरी तरह से हारों की गिनती नहीं कर पाई, कम गिनने से हमारी मौसी की प्रतिष्ठा में बट्टा लगेगा। मौसी ने आते ही मुझे गले लगा लिया। सच मानिये, उन्होंने मुझे क्षण भर का समय नहीं दिया कि मैं उठ कर उनका स्वागत करूं।

"अरे! तुमने पहिचाना नहीं, अच्छी भानजी हो?"

मेरी सगी मौसी कोई नहीं। फिर यह कौन हैं? किसी भाभी की माँ भी नहीं हैं। पंजाब में भाभी की माँ को मौसी कहने का रिवाज है।

इतने में उनका बड़ा लड़का बिस्तर उठाये आगे बढ़ा। वह मुस्कराकर बोलीं—'बेटा, बहन को नमस्कार करो, तुम्हारे जीजा शायद बाहर गये हैं, झट से सब सामान अपने आप ऊपर ले जाओ।'

तब कहीं मुझे आभास हुआ और दिमाग में यह बात कौंधी कि यह तो यहाँ रहने आयी हैं।

मौसी की जुबान बोलती रही—एक क्षण भी रुकी नहीं।

जो कुछ उन्होंने कहा था, उसका दो शब्दों में आशय यही है कि अमृतसर के गुरुद्वारों में, वह अपने सातवें पुत्र, तथा बड़ी लड़की के लड़के तथा अपनी तीसरी लड़की के लड़के का मुण्डन करवा, उन्हें माथा टिकाने वहाँ ले गई थीं, तो उनकी मुलाकात, मेरी बुआ की ननद की ननद से हुई और वहीं से उन्होंने मेरा पता पाया। हाँ, 'पोस्टकार्ड' तो परायों को लिखा जाता है, मैं भला कोई पराई थी? फिर कौन वह महीना दो महीना रहने आई थीं, यही दो-चार दिन की बात थी, क्या हुआ कुल मिलाकर वह चौदह बड़े प्राणी तथा पांच-छः बच्चे थे।

मौसी ने सूटकेस का हाथ पकड़ कर अपने पास बढ़ा लिया। कमरे के सामने उनका लड़का लड़की या उन लड़के-लड़कियों के पति-पत्नी, या फिर कोई बच्चा भारी बातों में आगे लगा। मौसी—'इनके लिए कमरा अलग कैसे बनाना था, वहाँ स्वागत से मेरा 'इन्ट्रोडक्शन' पुत्र-पुत्रियों, नाती-पोतों से करवा रही थीं: 'किसी की मैं बुआ थी और किसी की मैं मौसी, बड़ी बहन और छोटी बहन।

उस समय मुझे लग रहा था कि जैसे मैं कोई सिनेमा की फिल्म देख रही हूँ। उन लोगों की इतनी भीड़, जिन्हें मैंने आज तक देखा तक नहीं, कैसे एक के बाद एक बढ़ती ही जा रही थी। मुझसे किसी तरह आज्ञा लेने या कुछ पूछने की आवश्यकता गृहस्वामी मौसी ने नहीं समझी। वह स्वयं ही लड़कों को बतलाने लगीं कि यह क्या-क्या करें। उनके कथनानुसार बड़े लड़के ने ड्राइंग रूम का 'कारपेट' खोल कर दिया, कोच की कुर्सियाँ दूर दूर हटा दीं और वहीं अपना तथा अपने बहन-भाइयों के बिस्तर बिछा दिये।

जब बिस्तर तक नौबत पहुँच चुकी थी तो मुझे ख्याल हुआ इन्हें कुछ खाने के लिए भी तो पूछना चाहिए।

मौसी ने मेरे पति के बारे में अपने आप ही ज्ञान अर्जन कर लिया। मैं हैरान थी यह स्त्री यदि इतनी कुशाग्रबुद्धि रखती है तो इसे कहीं न कहीं मिनिस्टर होना चाहिए था।

खाने के लिए पूछने पर वह बोलीं—'मेरा तो व्रत है, मैंने तो सुबह से अभी तक पानी नहीं पिया।'

एक छोटा सा बच्चा बोला—'नानी, तुमने दूध तो पिया था।'

मौसी को उस बच्चे की इस बात से कुछ बुरा नहीं लगा। वह झेंपी भी नहीं। मुस्करा कर बोली—'बेटी, पाव भर बर्फी मंगवा लो मैं पानी पिऊँगी, कोरा पानी मेरे कलेजे में लगेगा।' आप यह न सोचें कि मौसी का व्रत था इसलिए इन्हें बर्फी की आवश्यकता पड़ी। दूसरे दिन सुबह भी उन्होंने बर्फी ही खाकर पानी पिया। यही उनका नियम था।

मौसी ने बड़े बेटे से कहा—'बहन से शरमाता क्यों है? तुझे चाय पीने की आदत है, तो कहता क्यों नहीं, तेरी बहन पढ़ी-लिखी है, अभी देख कैसे चटपट तुम लोगों के लिए चाय और नाश्ता बनाती है।'

मैं थक कर चूर थी, उसी दिन संध्या को कुछ मेहमानों को विदा कर चुकी थी। घर में नौकर केवल एक था, वह भी मेहमानों के लिए खाना बना-बना कर तंग आ चुका था। मैं हतप्रभ-सी मौसी के मुख की ओर देख रही थी। मौसी बड़ी चालाकी से मुझसे कहलवा चुकी थी कि खाना अभी बना जाता है। इतने में, मेरे पति आ गए। मैं फिर से नहीं दोहराऊँगी कि उनका परिचय मौसी ने खुद ही, किन शब्दों में अपने परिवार से कराया। परिवार कहना तो उन छोटे-बड़े परिवारों का अपमान करना होगा, अंग्रेजी में एक शब्द है 'इन्ट्रूडर्स', यही मौसी के साथियों की परिभाषा हो सकती थी।

मैं रसोईघर में जुटी थी, वहाँ मेरे पति आये और धीरे से दबे स्वर में बोले—'मैं ऐसे मेहमानों से बाज़ आया, तुम इन्हें किसी होटल में ठहरने को कहो।'

अभी अधूरी बात ही उनके मुख में थी कि मौसी उनकी यानी मेरे पति की बलाएँ लेती हुई कमरे के भीतर आ गयीं।

मैं चुपचाप काम में जुटी रही। मौसी ने व्रत सम्पूर्ण किया, आध सेर बर्फी खाई, तीन पाव दूध पिया और रात्रि-भोज—जो साढ़े ग्यारह बजे खाया—के लिए पूरी और हलवे की फरमायश कर दी।

मेरे छोटे भाई-बहन, यानी मेरी मौसी के लड़के-लड़कियाँ अपनी माँ की आज्ञा मान, उस घर को अपना ही घर समझ, जहाँ-तहाँ फर्श पर पानी फेंकने लगे। रात का खाना खाने तक वह लोग एक दर्जन शीशे के गिलासों को ठिकाने लगा चुके थे। मेरी मुश्किल की कुछ मत पूछिये, न तो मैं अपने पति से आंखें मिला सकती थी, क्योंकि वह बार-बार मौन रूप से डांट रहे थे कि यह मेरा ही दोष है जो हमारे घर को लोग धर्मशाला बनाये हुए हैं।

भोजन हो चुकने के बाद मौसी ने कहा—कि उन्हें तो मलाई खाये बिना नींद ही नहीं आती। यह कहना अतिशयोक्ति न समझा जाए तो सच बतलाऊँ कि उस रात हलवाई से एक सेर मलाई और पाँच सेर दूध आया, जो बच्चों को पिलाया गया।

मेरे पति ने घर छोड़ जाने की धमकी भी चुपके से दे दी। गुणवन्ती मौसी

[शेष पृष्ठ छब्बीस पर]

नया स्वर : अर्थात् एक ऐसे कृतिकार की प्रस्तुति जो नई सम्भावनाओं के संदर्भ में हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके। यहाँ कृति ही प्रकारान्तर से परिचय का काम करती है। —सम्पादक

ठाकुर साहब का घर

जगवीर सिंह वर्मा

"बिटिया कहाँ !" छोटे ठाकुर वेद बहादुर बिस्तर पर पड़े-पड़े अचानक एक बार ज़ोर से चिल्ला उठे। फिर खामोशी। काफी देर तक उनके मुख से कोई आवाज नहीं निकली।

चूने की दीवारें थीं किसी जमाने में बनी उस घर की। लेकिन ज्यादातर हिस्सा जगह-जगह से उखड़ गया था। कमरे की छत की दो-एक कड़ियाँ कुछ चटक गई थीं। कुछ आधी टूट कर नीचे जमीन की ओर झुक गई थीं। तख्तों के जोड़ खुल गये थे और आसमान की झलक दिखाई दे जाती थी। सूर्य की किरणें आंखमिचौनी छेड़ देती थीं। बाहर आंगन में लगी रमासिन सूख चुकी थी और किसी थके-हारे जीवन-सीमा के छोर पर खड़े वृद्धजन की तरह उदास आंखों से मर जाने की कामना कर रही थी। आंगन के एक ओर कोने में तुलसी का पेड़ खड़ा था। जिसके डण्ठल सूख चुके थे पर पत्तों पर हरियाली व्याप्त थी। मुख्य द्वार पर काले अक्षरों में 'ठाकुर हरनाम सिंह' लिखा था। अक्षर धुंधले पड़ कर मिटे-मिटे से हो गये थे। 'र' और 'न' शब्द तो पहचाने भी नहीं जाते थे। फिर भी हर जाने-आने वाले राहगीरों की दृष्टि उस घर की ओर उठती थी। और इज्जत के भाव से अनायास एक अफसोस भरी नजर उठ

जाती थी। फिर सकड़ों बातें उन्हें याद हो उठती थीं, जो उस नाम के साथ—उस घर के साथ जुड़ी थी।

छोटे ठाकुर बेदबहादुर बन्द आंखों को खोलने के प्रयत्न में थे, मगर वे खुल नहीं पा रही थीं। उनके अवचेतन मन में ऐसा लग रहा था मानों उन्हें कोई पुकार रहा है। किसी का अदालत में काम होता—कोई बी० डी० ओ०, डी० पी० ओ० से किसी काम को कराने के लिए आग्रह करता…… थानेदार से कुछ लेने-देने की बात होती…और कुछ हिस्सा वे अपने पारिश्रमिक के रूप में रख लेते। कुर्की होने से बच जाती…चोर सजा से बच जाता…किसी को सीमेंट के ब्लैक में कुछ मिल जाता…लोग उन्हें हजारों आशीर्वाद देते—उनके कुशल-मंगल की भगवान से कामना करते। और छोटे ठाकुर 'उस' पारिश्रमिक को धरोहर के रूप में रखने का प्रयास करते। रह-रह कर उनकी दृष्टि अपनी अठ्ठारह वर्षीय लड़की कल्लो की ओर उठ जाती। और उसके ब्याह का खयाल उन्हें झकझोर देता। वे चिन्ता में डूब जाते। मौसम अच्छा था उन दिनों, गांव में लड़ाई-झगड़े, चोरी-डकैती, पकड़ धकड़ बहुत हो रही थी। पर, उनकी आंखें तो खुलने का ही नाम नहीं ले रही हैं…।

एक अनहोनी घटना छोटे ठाकुर के स्वस्थ एवं छोटे परिवार में बिन बुलाये घुस आई थी। जिसे लोग शायद 'यही हैं कुदरत के खेल' संज्ञा देकर छोड़ दें। सचमुच वह 'कुदरत' का ही खेल था। आठवें बच्चे के प्रसव के साथ ही कल्लो की माँ चल बसी…प्यारी कल्लो की माँ जसवन्तो! बस, घर में जैसे भूचाल आ गया…वह उजड़ गया। जसवन्तो पत्नी बाद में, सहायिका, परिचारिका पहले थी। गृहस्थी का भार, खेती का भार सब उसी के जिम्मे था। वह स्वतन्त्र था। बस, कोर्ट, कचहरी, थानेदार, तहसीलदार, बी० डी० ओ०, डी० पी० ओ०, सप्लाई आफिस…यहीं तक उसकी दौड़ थी। यही उसका काम था—जिसमें मजे में घूमना, अच्छा खाना-पीना और दस-बीस की आमदनी भी…लेकिन सब विध्वंस हो गया…चकनाचूर हो गया….उसकी गृहस्थी हिल उठी।

…तब से उसके सिर पर सारा बोझ था। वह रोया था—आठ बच्चे …वह कैसे करेगा—क्या करेगा, उसकी समझ में कुछ न आया था।

भाभी, भाई सब औपचारिक सहानुभूति 'प्रकट' कर दूर हो गये। अपनी ही गृहस्थी नहीं सम्हल पा रही है—फिर दूसरे का बोझ… आगे उसने नहीं सोचा था। सोचने से कुछ होना भी नहीं था।

इसके बाद परिचितों ने, रिश्तेदारों ने, गाँव वालों ने कहा था—'ठाकुर तुम्हें पुनः घर बसा लेना चाहिए—अपने लिए नहीं, इन बच्चों के लिए… इस घर के लिए!' सुनकर उसका दिल दहल उठता—'…और इसके भी अगर बच्चे हो गये…' और इसी तरह वह भी …वह सिर्फ इतना कहता। लोगों की जबान ऐसे चुप हो जाती जैसे कभी खुली ही न थी। फिर उसे जसवन्तो की याद आती। उसका गला रुँधने लगता। मन ही मन वह कसमसा उठता।

जमीन काम लायक उसके पास थी। पर उसने खेती का काम कभी नहीं किया था। बड़े ठाकुर हरनामसिंह…उसके पिता जागीरदार थे। जागीर छोटी थी पर उस जमाने में उनकी इज्जत बड़े बड़े इलाके के रईसों से कहीं अधिक थी। उनके हुक्म के बगैर कोई कदम नहीं उठाता था। छोटी-से-छोटी बात में उनकी सलाह ली जाती थी…और उस वक्त वह लगान वसूल करने का काम करता था। उनके मरने के उपरान्त लोग उसे भी उतनी ही इज्जत देने लगे थे। ठाकुर हरनाम सिंह की जान-पहचान का दायरा काफी बड़ा था—घर का नाम था—इसलिए उसे किसी काम को कराने में परेशानी नहीं उठानी पड़ी। और लोगों ने कहा—'जैसा बाप था—वैसा ही बेटा है। चलो, उसकी आन रख ली। इस घर से जैसे पहले उम्मीदें कायम थीं—वही अब भी हैं।'

बड़े ठाकुर के मरने के बाद जसवंतो ने घर का काम संभाल लिया था। उसकी स्वतन्त्रता में कोई खास बाधा नहीं आई थी। जसवन्तो के मरने के बाद खेती करने के अलावा कोई चारा नहीं रह गया था—और खेती से वह घबराता था, खीजता था। फिर भी वह इसी में लग गया…।

सर्दी का मौसम था। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। संध्या समय था। बुखार एकदम बढ़ गया था। प्यास के मारे गला सूखा जा रहा था। देह जल रही थी। ओंठ थरथरा रहे थे। …फिर अचानक मद्धिम-सी आँखें खुलीं। और

उसने इधर उधर देखा

'चिड़िया कल्लो !' पुनः ठाकुर के मुख से अस्फुट शब्द फूट निकले।

पल भर में आंखें फिर मुंद गयीं। लेकिन उसकी ज्ञान शक्ति अभी कुछ बीती घटनाओं पर घूम रही थीं। उसके ओठों पर हल्की मुस्कान तिर उठी थी। हाँ, मुस्कान—फीकी-फीकी, व्यंगमय-सी...। वह देख रहा था अपनी दिवंगत पत्नी को... विवाहिता बड़ी लड़की रज्जो को··· उससे छोटी सन्तो को··· और... और कल्लो को...और पांच अन्य अपने उन छोटे बच्चो को...जिनमें दो लड़कियाँ और दो लड़के हैं...और इस वक्त जो अपनी ननिहाल गये हुए हैं। वह उन सैकड़ों स्वार्थी लोगों के चेहरों को याद करने की कोशिश कर रहा था, जो दिन में दस-दस चक्कर उसके यहाँ मारते थे, लेकिन जबसे कुड़की का हुक्म हुआ है...उसे ज्वर ने दबोचा है, तब से उसके पास कोई नहीं आया—और तो और उसका सगा भाई तेज बहादुर भी··· किसी ने यह तक पुछने की आवश्यकता महसूस नहीं की है कि वह कैसा है ?...शायद, ऐसे नाजुक वक्त में कभी वह कुछ मांग बैठे !...और आदमी कर्ज भी नहीं देना चाहता है, जहाँ से उसे वापिस मिलने की आशा न हो...और यहाँ....।

लेकिन अब...इस घर की इज्जत...बाप का नाम···कितने ही वर्षों का कमाया मान-सम्मान···उफ···! बेदबहादुर कराह उठा। यत्रवत नेत्र भी खुले उसकी अस्पष्ट ज्ञान-शक्ति की तरह जीभ भी भावों को स्पष्ट करने में असमर्थ हो रही थी। वह जसवन्तो को पुकारना चाहता था, जिस एक के अभाव में कितने अभाव पैदा हो गये हैं...जैसे एक निराली ही दुनियाँ पलकर पनपकर आज विराट रूप में उसके सामने आ खड़ी हुई है...ऐसी स्थिति की तो उसने कल्पना भी नहीं की थी...लेकिन अब इस सबके दिमाग में आने से क्या हो सकता है ?...

उसने आंखें चौड़ी करके चारों ओर देखा। कैसा शून्य है ?...उस अंधेरे के भय से ही वह रोमांचित हो उठा। वह उस कमरे में अकेला था। कल्लो रसोई में कुछ कर रही थी। बर्तनों की आवाज से उसने अनुमान लगाया। घने अन्धकार के एहसास ने एकाकी भटकती उसकी स्मरण शक्ति को जुगनू की भांति चमका दिया। उसके बिल्कुल नजदीक बांई ओर बड़े ठाकुर की तस्वीर

उगी थी मानो उसकी ओर देख कर मुस्करा रही हो...ढीली-ढाली पगड़ी, मैला चेहरा, घनी मूंछें, और मुस्कराहट...। कुछ दिन पहले तक उसने कितने ही लोगों की सिफारिशें की थीं, कितने ही लोगों का काम कराया था, कुछ पैसे भी हाथ में जमा हो गये थे—उसकी बड़ी लड़की के हाथ पीले हो गये—छोटी के पीले हो गये, वरना जमीन में क्या हो रहा है ?.. कभी बाढ़, कभी ओले, कभी सूखा, कभी कीड़े...कभी बम्बा बन्द है तो कभी ट्यूबवेल की मशीन खराब है और खेत आंखों के सामने सूख रहे हैं—वे खेत जिनमें अच्छे से अच्छा बीज पेट काट कर डाला गया है जिनमें खून और पसीने की खाद दी गई है..!

उसकी आंखें पुनः मुंद गयीं। आंखों से आंसुओं की बूंदें भरभरा उठीं। वह देख रहा था अपने बाल्य-काल में मां-बाप का आशीर्वाद...शान-शौकत, आनन्द...और अपने बच्चों के निरीह, मायूस, उड़े-उड़े चेहरे...।

"दाऊजी !..."

वह हकबका कर कांप उठा। दूर से गीदड़ों की आवाज सुनाई पड़ी। सर्द हवा अभी भी चल रही थी। आसमान में सुबह से ही बादल थे। रमासिन पर बैठा उल्लू कुछ बक रहा था।

छोटा ठाकुर हांफ रहा था, मानों उसे कुछ सुझाई न दे रहा हो। वह जोर से चिल्ला उठा—'बिटिया कल्लो !'

...उसे याद आया—महीनों पहले कुरकी वारण्ट आने से पहले वह सामने पुरोहित जी के पास बैठा था। दो अनजान राहगीर सामने से गुजरे थे। तब एक ने दूसरे से कहा था—'यह है ठाकुर हरनाम सिंह का घर।'

'अच्छा, बड़े आदमी थे—नाम भी खूब था साहब किसी वक्त। अच्छे थे बेचारे...यह घर है उनका—चलो आज देख लिया !' दूसरे ने कहा था और एकटक घर की ओर निहारता हुआ कुछ क्षण के लिए ठिठक कर खड़ा का खड़ा रह गया था। उसके दूसरे दिन जब वह खेत से काम करके शाम को घर लौट रहा था तो दो-तीन औरतें रास्ते में मिली थीं। उसके समीप से गुजरने के बाद एक ने कहा था—'पता नहीं, लड़की की शादी क्यों नहीं करता छोटा ठाकुर...अब तो अच्छी खासी स्यानी हो रही है...।' तभी दूसरी बोल उठी

घी—'करे कहाँ से अब वह हवा नहीं मन्नो अब तो नाम है ठाकु
क्या है ! कल लड़का कह रहा था कि ठाकुर प्रिन्सिपल के पास अपने ल
फीस माफ कराने की सिफारिश करने गये थे। उसने अपनी मजबूरी
क्योंकि वे देर से पहुँचे थे। समय निकल गया था। पिछले माह की फी
तक अदा नहीं हो पाई है...।'

'कल्लो बिटिया !...' पर आवाज फँसकर जैसे गले में अटकी रह
उसकी आँखों से आँसू और जोर से चू पड़े। फिर न तो जीभ खुली
आँखें।

रमासिन पर बैठा उल्लू जोर से बोल उठा। 'दाऊजी ऽऽ...आज
बुखार है क्या—मैं पुड़िया ले आई हूँ पुरोहित जी से। दाऊजी...दाऊ
और सुनसान, अंधेरे वातावरण में चीख गूंज उठी। तभी गाँव के को
किसी राहगीर ने एक व्यक्ति से देर हो जाने की वजह से ठहरने का उ
किया। वह बोला—'ठाकुर बेदबहादुर के घर चले जाओ....ऐसा काम
करते हैं....।'

सर्दी और बढ़ गई थी। रोने का स्वर भी तीव्र हो उठा था। और वह रा
ठाकुर बेदबहादुर के घर का रास्ता पूछ रहा था...।

●

सम्पर्क सूत्र : ३१।४ ए, कलासपुरी, मेरठ।

नाम का पत्थर

मनोज बसु

गोविन्द अपनी मार्बल की दूकान पर बैठा पत्थर तराश रहा था।

अचानक उसे राय साहब की खाँसी सुनाई पड़ी। उसने सिर उठाकर देखा। राय साहब खड़े थे। वे बोले—'भइया गोविन्द, जरा एक पत्थर पर सुन्दर ढंग से "देवालय" लिख देना।'

गोविन्द चौंका। उसने आश्चर्य से पूछा—'इसकी क्या जरूरत पड़ गई—राय साहब?'

—'दरवाजे पर लगवाऊँगा। भइया, सारी जायदाद अब तो मैंने ठाकुर के नाम कर दी है। जब तक साँसें चल रही हैं तब तक हम दोनों प्राणी भजन-कीर्तन में ही दिन बितायेंगे।'

बड़े उत्साह के साथ गोविन्द ने भी राय साहब के निश्चय का समर्थन किया। उसने कहा—'राय साहब, यह तो आपने बहुत ही अच्छा सोचा। इस नश्वर संसार में भजन-कीर्तन से बढ़कर कोई चीज नहीं। हरिनाम ही तो अन्त समय का एकमात्र सहारा है।'

गोविन्द ने सुन्दर ढंग से एक पत्थर पर 'देवालय' लिखा और शाम को जाकर राय साहब के बंगले के दरवाजे पर लगा दिया। बंगले के अन्दर प्रतिष्ठित भगवान की मूर्त्ति खिल उठी।

० ०

तीन साल बीत गए।

राय साहब फिर एक दिन गोविन्द की दूकान पर पहुँचे। ड्राइवर ने 'देवालय' लिखित वही पत्थर लाकर गोविन्द के सामने रख दिया।

—'भइया गोविन्द, इसे मैं खोल लाया हूँ। इसकी अब जरूरत नहीं। अब तू इसी नाप के दूसरे पत्थर पर 'नन्दन-कानन' लिख दे। उसे ही लगवाऊँगा।'

—'जी?' गोविन्द चौंका।

गद्‌गद् हो राय साहब बोले—'बच्चा हुआ है। मुन्ना है मुन्ना! इस ढलती उम्र में एक रोशनी तो मिली। जानते हो मालकिन ने क्या नाम रखा है उसका? नन्दलाल! अब जब अपने यहाँ एक लाल आ ही गया तो फिर सारी जायदाद को ठाकुर के नाम सौंपना उचित नहीं जंचता। मुन्ना बड़ा होगा तो क्या कहेगा?'

गोविन्द ने समर्थन में अपनी गर्दन हिलाई।

—'ठीक ही तो है राय साहब, बच्चे के भविष्य के बारे में भी तो सोचना है आपको।'

—'अच्छा तो भइया, अब मैं चला। हाँ, अगले बुध को कुछ खाना-पीना किया है घर पर। शाम को जरूर आना, अँ?'

गोविन्द बुधवार की शाम को रायसाहब के बंगले पहुँचा। दावत खाई और 'नन्दन-कानन' वाले पत्थर को दरवाजे पर लगा दिया।

भगवान की मूर्त्ति ने नवजातक को सहर्ष आशीर्वाद दिया।

० ०

बीस साल गुजर गए।

राय साहब फिर गोविन्द की दूकान पर दिखाई पड़े। ड्राइवर ने 'नन्दन-कानन' वाला पत्थर गोविन्द के सामने लाकर रखा।

—'भइया गोविन्द, अब तो यह भी बेकार हो गया। एक नया पत्थर फिर

से लिख दो। उस पर लिखना—'नन्द-निर्मलालय'।

अपनी टूटी ऐनक को जरा ऊपर की ओर [illegible] राय साहब की ओर देखा।

—'इसी पूर्णिमा को नन्दलाल की शादी है। [illegible] देखा आई है। बड़ी सुन्दर है। साक्षात लक्ष्मी है लक्ष्मी!' [illegible] अपनी जिन्दगी का अब क्या ठिकाना भइया! हम तो पत्तों के पके आम हैं। अभी टपक पड़ें। जो कुछ भी अपने पास है सब उन्हीं का तो है। भइया गोविन्द, मैं चाहता हूं कि इस बंगले में वर वधू के प्रवेश के पहले ही दरवाजे पर पत्थर लग जाय। बहू देखेगी तो बहुत ही खुश होगी। क्यों भइया, कैसी सूझ है यह!'

राय साहब की इस नई सूझ पर गोविन्द जरा मुस्कराया। पत्थर-तराशी करते उसकी जवानी बुढ़ापे की ओर बढ़ी है। इस तरह की बात उसके जीवन में कभी नहीं आई। वह बोला—'बहुत दूर की कौड़ी लाये हैं आप राय साहब। यह तो बिलकुल ही नई सूझ है। ऐसा तो आज तक किसी ने सोचा भी नहीं होगा।'

शायद तीन दिन बीते होंगे। रायसाहब ममहिल से गोविन्द की दूकान पर दिखाई पड़े।

उनका चेहरा बिल्कुल उतरा हुआ था और आँखों की कोर पर स्याही दिखाई पड़ रही थी। तीन दिन में ही राय साहब की सूरत ऐसी हो गई थी जैसे तीस साल बाद दिखाई पड़े हों।

—'क्यों भइया गोविन्द, पत्थर लिख दिया क्या?'

पत्थर पर चलती हुई गोविन्द की छेनी जहाँ की तहाँ रुक गई। वह अवाक् राय साहब की ओर देखने लगा।

—'अब उसकी जरूरत नहीं रही!' भराई हुई आवाज में रायसाहब बोले।

—'क्यों? क्या बात है राय साहब?' गोविन्द ने आश्चर्य से पूछा।

एक लम्बी साँस छोड़कर राय साहब बोले—'नन्दलाल अब इस दुनिया में नहीं रहा भइया। पिछली रात कई कै-दस्त हुए और शाम होते-होते चल बसा। भगवान ने अपने पास बुला लिया उसे। अब भइया 'नन्द-निर्मलालय' लिखने की कोई जरूरत नहीं। केवल 'देवालय' ही लिख दो।' बूढ़े राय साहब की आँखों

में आंसू झलक रहे थे

गोविन्द की दूकान के कोने में टूटे-फूटे और रद्दी पत्थरों का ढेर लगा था। उसी के अन्दर से उसने धूल से भरा एक पत्थर खींच कर निकाला।

—'नया पत्थर लिखने की क्या जरूरत है राय साहब! यह आपका वही पुराना पत्थर है। झाड़-पोंछ कर इसे ही लगवा दीजिये।'

गोविन्द ने शाम को जाकर दरवाजे पर वही पुराना पत्थर लगा दिया।

भगवान की मूर्ति आश्चर्य और कौतूहल से अवाक् रह गई।

● अनु० : श्री दीपनारायण मिठौलिया
गवर्नमेंट क्वार्टर्स, ब्लाक नं० १५, फ्लैट नं० ७८,
वनमाली नस्कर रोड, कलकत्ता—३४

[चौबीसवें पृष्ठ का शेषांश]

की बुद्धि की प्रशंसा किये बिना मैं न रह सकूंगी। उन्होंने झट से कहा—'हम मौसी भांजी पास-पास सोयेंगी, हमने बहुत दिनों से एक दूसरे से सुख-दुःख की बात नहीं की है। इस बात को मैं दोहराऊँगी नहीं कि जीवन में उनसे मैं प्रथम बार मिल रही थी।

गुणवन्ती मौसी ने रात को बहुत-सी बातें कीं जिनका उल्लेख यहां कुछ बेतुका सा लगता है, परन्तु एक बात उन्होंने बड़े प्रगतिवादी ढंग से कही—'बच्ची, तुम्हारे मौसा को मैं वहीं छोड़ आई हूँ। इन बूढ़ों के साथ सैर सपाटा बड़ा मुश्किल हो जाता है।' फिर मौसी की आंखों में आंसू आ गए और उन्हें अपने महीन जालीदार दुपट्टे से, जिस पर रेशमी तारों की कढ़ाई हुई थी, पोंछती हुई बोलीं—'औरत के लिए यह कितना बड़ा दुःख है कि उसका पति उसके देखते-देखते बूढ़ा हो जाए।'

मैंने आंखें अच्छी तरह से मल कर गुणवन्ती मौसी की ओर देखा, जो बूढ़े से जवान होने वाली दवाइयां, काले से गोरे होने वाले नुस्खों तथा चार दिन में नया जीवन पाने वाली गोलियों को चुनौती दे रही थी। मैं मन ही मन सोचने लगी—कोई 'इण्टरनल यूथ' का कम्पटीशन हो तो, मौसी को जरूर प्रथम पुरस्कार मिल जायेगा। सात लड़के, पांच लड़कियाँ। ठीक एक दर्जन जीवित और लग-

सब आये दर्शन भर बच्चों की मा [illegible]

मौसी कितनी देर बात करती रहीं मुझे याद नहीं। [illegible] गई। दूसरे दिन फिर वही [illegible] शुरू हुआ। मौसी की [illegible] और मेरे पति को पांच मिनट भी एकान्त में बात नहीं करने दी। [illegible] मिलकर उन्हें घर से निकाल न दें। [illegible]

नाश्ते पर कितनी पूरियां बनीं, या कितने [illegible] ने कीं, उनका ब्योरा न देकर केवल इतना कहूँगी कि नुमाइश में जाने के लिए भोजन की मांग शुरू हुई।

मौसी का बड़ा लड़का बोला—'बहन जी के घर का खाना बहुत अच्छा है।'

मौसी का सर्वांग खिल उठा—'वाह! तुमने बहन के बनाये पराठे भी खाये नहीं। एक बार खाओ तो याद रहे।'

मेरे बनाये पराठे अच्छे होते हैं, यह मौसी ने कैसे जाना? इस विज्ञान का क्या नाम हो सकता है? यह न टेलीपैथी है और न सिम्पैथी। मेरे ख्याल में इसे 'मौसोपैथी' कहना चाहिए।

मौसी का नहाना कैसे हुआ और कैसे वह नुमायश के लिए तैयार हुयीं, जैसे लड़का ब्याहने जा रही हों।

मेरे नौकर ने यह बात बहुत ही धीरे से कही कि नुमायश में बहुत अच्छा खाना मिल जाता है। मौसी ने कहा—'परदेश में कौन भरोसा, बेटी, तू कोई तीस-पैंतीस पराठे सेंक दे अधिक कष्ट मत कर।'

हमारे घी की शामत तो आनी ही थी, परन्तु पड़ोसियों का घी भी खत्म हो गया। सब बांध कर मौसी को सवारी की चिन्ता हुई। वह अपना सुनहरा चश्मा चढ़ाती हुई बोलीं—मैं तो बसों में चढ़ी नहीं। तांगे के लिए वह जगह बहुत दूर है। केवल एक साधन रह गया है, मोटर। हमारे यहाँ मोटर न होने पर मौसी ने एक व्याख्यान दे डाला। मैं अपने पति के डर के मारे घर के भीतर चली गई क्योंकि मौसी बरामदे में लेक्चर दे रही थीं।

हमारे पड़ोसियों के पास मोटर है। उन्होंने दुर्भाग्य से बाहर निकाली, उसकी सफाई होते देख, मौसी बोलीं—

'अरे बेटी, पड़ोसियों की मोटर और अपनी में कोई भेद होता है, फिर तुम

[सत्ताइस

कहानी : रजनी पनिकर]

तो बतला रही थीं कि हमारे पड़ोसी बहुत अच्छे हैं, बिल्कुल भाइयों की तरह भी तो बेटे की तरह हुए। मौसी को नुमायश तक पहुंचा न देंगे?'

पड़ोसियों ने सुना वह बेचारे झेंप कर रह गये। इससे पहले कि वह कुछ बोलें, मौसी उनको फैसला सुना चुकी थीं। मरते क्या न करते। उन्होंने मौसी को तथा उनके परिवार को दो बार में नुमायश पहुँचाया।

मौसी के बहुत आग्रह करने पर भी मैं उनके साथ नुमायश न जा सकी।

गुणवन्ती मौसी के गुणों का बखान कहाँ तक करूँ। दो दिन दिल्ली रह कर जब वे वापिस जाने लगीं, तो मेरे हाथ पर दो रुपये रख दिये—'बेटी, क्षमा करना, तुम्हें बड़ी तकलीफ दी है। फिर सच पूछो तो अपने आदमियों को तकलीफ तो नहीं होती। मुझे पूर्ण आशा है कि तुम भी हम लोगों से मिल कर प्रसन्न हुई होगी।'

धीरे-धीरे नमस्कार-आशीर्वाद समाप्त हुआ। दो रुपये मेरी हथेली पर थे और मैं समझ रही थी उस उक्ति का सही अर्थ क्या है—ऊंट के मुंह में जीरा। मौसी सीढ़ियां उतर कर फिर लौट आयीं। मेरा दिल धक से रह गया। याने शायद उन्होंने इरादा बदल लिया है। वह हांफती हुई आयीं और बोलीं—'यह चवन्नी ले लो, बेटी, अपने नौकर को दे देना।'

मैंने मन में सोचा, जमादार के लिए भी शायद इकन्नी है। परन्तु वह फिर मेरे सिर पर हाथ फेरती हुई सैकड़ों आशीर्वाद देती हुई सीढ़ियां उतर गयीं। कहने की आवश्यकता तो नहीं कि हमारे पड़ोसी की मोटर खड़ी थी, जिसमें किसी तरह लद कर, आधे लोग एक बार और आधे दूसरी बार गये।

आप भी गुणवन्ती मौसी के गुणों की प्रशंसा किये बिना न रह सकेंगे, कि पड़ोसियों की मोटर पर हम लोग तो कभी कनाट-प्लेस तक न गये थे, कहाँ मौसी उसे अपने घर की ही मोटर समझ कर, पहले नुमायश घूमती रहीं, फिर स्टेशन पर भी ले गयीं। हमारे पड़ोसी आज तक मौसी को याद करते हैं। बड़ी हँस-मुख थीं, बड़ी ही बेतकल्लुफ थीं। भेदभाव बरतना वह बिल्कुल नहीं जानती थीं। राजा की रानी होकर वैसे तो सब राजा समाप्त हो गये हैं, क्या उनका टैक्सी की कमी थी? नहीं, हमारी मोटर ही उन्हें अच्छी लगती थी।

कभी-कभी मन में विचार होता है कि मौसी से बदला लूं, परन्तु चौदह-पन्द्रह लोग आखिर कहाँ से इकट्ठे करूँ, अभी तक यह नहीं समझ पाई।

●

सम्पर्क-सूत्र : आकाशवाणी, कलकत्ता।

नई कविता के संदर्भ में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर स्वरूप एक

●

आज की कविता या कहानी पर विचार करने के पूर्व सहज ही खिचने वाली विभाजन रेखा को हम 'स्वातंत्र्य पूर्व' एवं 'स्वातंत्र्योत्तर' के बीच देख और समझ सकते हैं। स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों–मनस्थितियों–विघटनों एवं बदलते हुये मानव–मूल्यों ने नये कवि को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इतना कि वह कई बार न चाहते हुये भी चारो ओर से टूट कर नितांत व्यक्तिवादी हो गया है। या उसे यही समझ लिया गया। इस प्रक्रिया के मूल में कवि का अत्याधिक 'सेन्स-टिव' होना भी एक प्रकार से प्रमुख है। उसे, उस हर 'होने' ने प्रभावित किया है जिसका सम्बन्ध कहीं न कहीं उसके जीवन से है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता को जिन थोड़े से कवियों ने तेजी से लिखा–समझा और आगे बढ़ाया है "सिर्फ एक गुलाब के लिये" का कवि भी उनमें से एक है।

प्रस्तुत संकलन कवि उदयभान मिश्र का सम्भवतः तीसरा कविता संकलन है। संकलन की अधिकांश कविताओं को पढ़कर जो बात समझ में आती है वह यह है कि आज की कविता कोलाहल की स्थिति से निकल कर एक अपेक्षाकृत सुस्पष्ट और सुदृढ़ धरातल पर खड़ी है। यद्यपि इसके पूर्व नई कविता को लेकर विभिन्न सीमान्तों से नानाप्रकार के प्रश्न उठाये जाते रहे हैं और नई कविता के प्रत्येक कवि ने यथा-साध्य हर सम्भव उन प्रश्नों के उत्तर स्वरूप ही 'बहुत कुछ' अपने सृजन के माध्यम से पाठकों और प्रश्नकर्त्ताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया और

उदयभान मिश्र की कविता–पुस्तक 'सिर्फ एक गुलाब के लिये।'
प्रकाशक : जी० आई० एजेन्सी, १२, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता—१२।
मूल्य : तीन रुपये मात्र।

[क्रमशः

समीक्षा : शलभ]

उनकी भ्रान्ति के निवारण में वह सफल भी हुआ। उसने सिद्ध कर दिया कि नई कविता की समूची प्रतीक योजना, बिम्ब विधान और अनुभूतियाँ आज के जीवन-संदर्भ से सीधे सम्पृक्त हैं। अर्थात् कविता और जीवन में अन्तर नहीं है। इस अन्तर को मिटाने के लिये कई बार वह एक अजीब-सी बेचैनी महसूस करता है। कवि की 'दर्पण' शीर्षक कविता को इसी क्रम में देखा जा सकता है।

दर्पण
    दर्पण को
        खा रहे हैं!
लोग......
    खुद से
        घबरा रहे हैं!

नई कविता में निहित 'अर्थलय' को लेकर प्रायः दकियानूसी और मंचतोड़ (नीरज जैसे) गीतकारों को निरर्थक बातें करते सुना गया है। यहाँ प्रकारान्तर से इस बात को स्पष्ट करना उचित जान पड़ रहा है। बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिनके होने का आभास मात्र हमें मिलता है। अर्थलय की स्थिति भी वैसी ही है जैसे नदी–जल का ऊपरी भाग जहाँ लहरें बनती और बिगड़ती हैं उसे भी धार की ही संज्ञा दी जाती है और नीचे एक धार ऐसी भी है जो जमीन को काट कर नदी के लिए रास्ता बनाती है। मेरी समझ से नई कविता की अर्थलय का बहुत कुछ ऐसा ही रूप है। कवि की 'साक्षी' शीर्षक कविता इस स्थिति को और भी स्पष्ट करती है।

गिरे हुये सिगनल का कुछ भी नहीं है मेरे लिये अर्थ!
क्योंकि : मैं उन रेलगाड़ियों का साक्षी हूँ
जो बिना किसी सूचना के
बिना किसी शोर के
बिना किसी संकेत के
हवाओं को कँपाती चली जाती हैं!

बुर्जुआ संस्कारों के पाठक, आलोचक अथवा कवि [illegible] विरोध में, नई कविता में आये हुये 'उदास', 'सूनेपन', 'घुटन', 'निराशा' आदि शब्दों का उद्धरण देकर गलत ढंगसे अपनी बात सामने रखने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन इस सबके बावजूद

परिलक्षित होने वाली 'आशा' और 'जिजीविषा' को सहज ही नकारने की असफल चेष्टा करके अपनी स्थिति को हास्यास्पद बना लेते हैं। इसी उदासी और सूनेपन के बीच दृष्टि परिधि को सम्पूर्ण रूप से घेरने वाली आशा का एक संकेत 'प्रतीक्षा' शीर्षक कविता में मिलता है।

मेरी लहरें बहा ले गया है एक भाटा
समुद्र की ओर !
कब से मैं देख रहा हूँ इस हुगली की धार को
सूनी आँखों, उदास मन !
प्रतीक्षा कर रहा हूँ इस ज्वार की
जो मेरी लहरें कर देगा वापस !

नई कविता में जिन्हें अनास्था और मृत्यु बोध के अतिरिक्त 'और कुछ' न दिखाई पड़ता हो वे कवि की 'आस्था' और 'जीवन' शीर्षक कवितायें पढ़ कर अपना भ्रम दूर कर लें। उसके विचार कितने युग सापेक्ष्य और बदलती परिस्थितियों के प्रति कितने सजग हैं इस संदर्भ में 'अहिल्या की मुक्ति', 'आदमी और सांप', 'बीसवीं सदी' आदि कविताएँ देखी जा सकती हैं। विडम्बनाओं पर ही जीवित रहने का उपदेश देने वालों को वह 'वास्तविकता' का संकेत कितनी सूक्ष्मता के साथ देता है इसका उदाहरण है 'स्पष्टता' शीर्षक समूची कविता।

कब तक रखोगे मुझे डाक्टर !
इस क्लोरोफार्म के नशे में
आखिर तो सहनी ही पड़ेगी
कभी न कभी पीड़ा इस घाव की।

संकलन में तमाम कविताओं के साथ एक रूपक भी है। 'बादल और वैज्ञानिक का नगर'। मेरे विचार से यह सकलन की सर्वाधिक लम्बी और अर्थवती रचना है। विज्ञान की समूची अर्थवत्ता भयानकता के संदर्भ में ही ग्रहण करने वालों के समीप प्रकृति और विज्ञान के समन्वय का परिणाम 'वातावरण की [illegible]' के पश्चात् उभरने वाली इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है।

वैज्ञानिक यदि गलत न समझा गया
तो—खिल जायेगी कली-कली
वन-वन की।

[-इक्तीस

समीक्षा : शलभ]
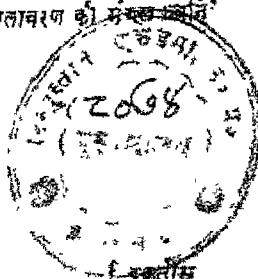
हर डगर—लताओं फूलों से शृङ्गार करेगी !
यह नगरी जो डरी हुई है—भरी हुई है
वैज्ञानिक की जय जयकार करेगी !
बादल आयेंगे !
जल बरसायेंगे !!

अन्त में संग्रह की श्रेष्ठ कविता (जिसका शीर्षक ही संकलन-सम्बोधन है) को उद्धृत करते हुए कवि के निजी वक्तव्य की अन्तिम पंक्ति दुहराता हूँ 'मेरा काम समाप्त हुआ।'

सिर्फ एक गुलाब के लिये
कभी कभी पत्नी की आँखें भर आती हैं !
बच्चों की किलकारियाँ बन्द हो जाती हैं !
चेहरे मुरझा जाते हैं !
कभी-कभी ऊसर तोड़ते हाथ
फावड़ा से चिपके रह जाते हैं !

● शलभ

•

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत कविता-पुस्तक 'आँगन के पार द्वार' के सम्मान्य कृती स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' को रूपाम्बरा परिवार की ओर से बधाई।

•

नव-गीत कवि उमाकान्त मालवीय की कविता-पुस्तक "मेंहदी और महावर" उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई। इसके लिए हम सरकार को धन्यवाद देते हुए कवि से भविष्य में 'कुछ और श्रेष्ठ' की आशा करते हैं।

•

रू पा म्ब रा

१ : यह एक [illegible] नवलेखन प्रधान सहकारी प्रयास है।

२ : अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए पूर्ण अथवा निवेदन स्वीकार करें।

●

आगामी अंक की सम्भावित सामग्री

१ : चन्द्रकान्त मालवीय और रमेश बक्षी की क्रमशः कविताएँ और कहानी।

२ : भाषान्तर (प्रादेशिकी) के अन्तर्गत मधुराय की गुजराती कहानी।

३ : नया स्वर स्तम्भ में रेमनाथ की कथाकृति।

४ : शलभ द्वारा रविनाथ मिश्र की कविता पुस्तक "अंगना फूले कचनार" की समीक्षा।

●

१ : समीक्षार्थ केवल उन्हीं पुस्तकों की एकाधिक प्रतियाँ भेजें, जिनका प्रकाशन १९६० के पूर्व न हुआ हो।

२ : विशेष असुविधा न होने पर दस रुपये सहयोग राशि के रूप में भेजें।

●

सम्पर्क-सूत्र

रूपाम्बरा

आर्य पुस्तक भवन,

१८०, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता—७

आर्य पुस्तक भवन, १८०, चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता—७ से प्रकाशित तथा प्रीमियर प्रिन्टर्स, ९, धर्मतला स्ट्रीट कलकत्ता-१३ से मुद्रित।